डा. बाबा साहेब अम्बेडकर

दत्तोपंत ठेंगड़ी

डॉ.बाबा साहेब अम्बेडकर

दत्तोपंत ठेंगड़ी
संसद सदस्य

लोकहित प्रकाशन, लखनऊ

प्रकाशक :

लोकहित प्रकाशन

लखनऊ (उ० प्र०)

प्राप्ति स्थानः

लोकहित प्रकाशन

पत्र मञ्जुषा २०७

राजेन्द्र नगर, लखनऊ -४

मूल्य रू. १.००

मुद्रक :

कौशल प्रेस

राजेन्द्र नगर, लखनऊ - २२६००४

तृतीय आवृत्ति

प्रकाशन दिवस

गणतंत्र दिवस, सं० २०४५ वि.

(दि० २६ जनवरी १९८८ ई०)

निवेदन

डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर देश के उन कतिपय मनीषियों, विचारकों एवं पिछड़े तथा दलित वर्ग के त्राता के रूप में माने जाते हैं जिनका नाम इतिहास के पन्नों पर सोने के अक्षरों में लिखा जायगा।

डॉ. अम्बेडकर ने न केवल हरिजन वर्ग का अपितु सम्पूर्ण समाज जीवन को सुव्यवस्थित एवं सौहार्द्रपूर्ण बनाने के लिये जो अभियान छेड़ा था यदि दुर्दैव से उसे राजनीतिक दुष्चक्र में न फँसा दिया गया होता तो आजाद भारत के माथे से ऊँच-नीच, छुआछूत की दुर्भावनाओं का कलंक दूर होने के साथ ही अमीर-गरीब के बीच की खाई भी पट गयी होती।

प्रस्तुत पुस्तिका में बाबासाहेब अम्बेडकर के जीवन के प्रेरक सद्गुणों पर प्रकाश डाला गया है। विख्यात विचारक, प्रसिद्ध मजदूर नेता एवं स्वर्गीय डॉ. अम्बेडकर के निकट सहयोगी संसद सदस्य श्री दत्तोपंत ठेंगड़ी ने जिस समग्रता के साथ अपने विचार व्यक्त किये हैं उनका अनुभव पाठक स्वयं करेंगे।

३ अगस्त १९७१ को नांदेड (गुरुगोविन्द सिंह का समाधि स्थल) में रिपब्लिकन कामगार संघ द्वारा आयोजित एक विशेष समारोह में श्री ठेंगड़ी ने मुख्य अतिथि के रूप में वहाँ जो विचार व्यक्त किये थे वही इस पुस्तक में समाहित हैं। समारोह के प्रारम्भ में रिपब्लिकन संघ के कोषाध्यक्ष श्री शंकरराव देशपाण्डे ने अत्यंत ही भावविभोर होकर श्री ठेंगड़ी का परिचय कराते हुए कहा था कि इस प्रकार के सर्वज्ञात सम्पन्न, पाण्डित्यपूर्ण, संगठनकुशल, मृदुभाषी, सहृदय एवं सहिष्णु व्यक्ति आज के सार्वजनिक जीवन में मिल पाना कठिन है। वे (श्री ठेंगड़ी) एक ऐसे व्यक्ति हैं जो मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीने तथा पूर्वाग्रह से दूर समानता के स्तर पर शोषणमुक्त समाज का निर्माण करने की प्रेरणा उत्पन्न कर पाने में पूर्णतया सक्षम हैं, उनकी वाणी एवं व्यवहार में भेद की भनक तक नहीं आती।

अंत में पाठकों से एक निवेदन है। श्री ठेंगड़ी का प्रस्तुत भाषण अविकलरूप से प्राप्त न होने के कारण उसके कुछ अंश यदि छूट गये हो तो उसे वक्ता का नहीं प्रकाशक एवं सम्पादक का ही दोष मानें। हम स्वयं इस बात से आश्वस्त नहीं हैं कि श्री ठेंगड़ी ने जिस ओजस्विता एवं व्यापकता के साथ डॉ. अम्बेडकर के सद्गुणों का विवेचन किया था उसे उसी रूप में प्रस्तुत कर सके हैं कि नहीं। यदि कहीं कोई व्यतिक्रम दिखे तो प्रबुद्ध पाठकों से उसके लिये क्षमा प्रार्थी हूँ।

प्रकाशक

डॉ. बाबा साहेब अम्बेडकर

आदरणीय बाबासाहब का जीवन अतीव त्यागमय, कर्ममय एवं तपःपूत रहा है। उनका बोलना, उनका बर्ताव, उनकी नेतृत्व शक्ति, उनका संगठन कौशल्य, सबको संभालकर ले चलने की वृत्ति तथा उनकी अप्रतिम विद्वता से सभी परिचित है। वे इतने अधिक श्रेष्ठ थे कि बड़ों-बड़ों को भी उनका ठीक प्रकार से मूल्यांकन करने में कठिनाई होती है। बड़ों के बारे में यह बात सामान्य सी है। कहते हैं अंग्रेज साहित्यकार जॉनसन (Dr. Samuel Johnson) की जीवनी बास्वेल (James Boswell) नामक चरित्रकार ने लिखी है। उस पर टिप्पणी करते हुए किसी विद्वान ने कहा है जॉनसन जैसी विभूतियाँ कम ही होती हैं पर बॉस्वेल जैसे चरित्रकार तो और भी कम उपलब्ध होते है (Johnsons are rare but Boswells are rarer) । महापुरुष तो वैसे ही विरले होते है पर उन्हें यथार्थ रीति से समझ कर उनका अनुसरण करने वाले और भी विरले होते हैं।

अति दरिद्र परिवार में जन्म होने पर भी उससे हतप्रभ न होकर केवल अपनी इच्छाशक्ति के सहारे उन्होंने अपनी पूर्ण श्रेष्ठा अर्जित की है। जिस सामाजिक, आर्थिक, अन्याय के काल में उन्हें इन अन्यायी शक्तियों का प्रतिरोध करना पड़ा है वह इतनी भीषण थी कि यदि और कोई साधारण व्यक्ति होता तो उसकी कमर ही टूट गयी होती। परन्तु वे बाबा साहब ही थे कि जो अपने से कई गुना बलवान शक्ति प्रवाहों के विरुद्ध न केवल डटकर खड़े हुये, अपितु उनके विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर इन प्रवाहों की दिशा मोड़ने में भी पर्याप्त मात्रा में सफल हुये। इससे उन्हें जो श्रेष्ठता मिली उसमें उन्हें समाधान नहीं था। क्योंकि अपना समूचा दलित पीड़ित समाज उठ खड़ा हो यही उनकी चिंता का विषय, कर्म का क्षेत्र तथा जीवन का लक्ष्य रहा। यदि उन्हें स्वयं बड़े बनने की बात से समाधान होता तो उन्हें बड़ा से बड़ा सम्मान मिल गया था। स्वतन्त्र भारत के प्रथम मंत्रिमंडल में वे मंत्री बन चुके थे। जिस समय उन्हें उस पद की निरुपयोगिता अनुभव में आने लगी वे उसे लात मार कर अलग हो गये और अन्य मार्ग से अपने दलित-पीड़ित समाज बन्धुओं की सेवा में जुट गये।

आदरणीय बाबासाहब कई गुणों से युक्त थे। हम जितने अधिक निकट से उनका अध्ययन करेंगे उतना ही अधिक हमें यह अनुभव हो सकेगा। परन्तु विशेषकर उनमें

प्रखर बुद्धिवादिता के साथ-साथ आत्यंतिक करुणा भाव भी था। ऐसा मिलन कम व्यक्तियों के जीवन में दिखाई देता है। प्रखर ब्रह्मवाद के सहारे ही आपने तत्कालीन प्रचलित समस्त मत मतांतरों का विश्लेषण कर उनकी दृष्टि में श्रेयस्कर एवं संशोधित मार्ग ही अपने अनुयायियों के सामने रखा। साथ ही आत्यंतिक करुणाभाव के कारण ही वे अपने बन्धुओं की दीनदरिद्र स्थिति से तद्रूप होकर तिलमिला उठे। अपने अनुयाइयों से अत्यधिक ऊंचे होने पर भी वे उनसे अलग नहीं दिखते थे। उन पर होने वाले अन्याय-अत्याचारों से द्रवित होकर ही समूचे जनमानस में उन्होंने इनके प्रति चिढ़ उत्पन्न की। इस अन्याय का मूल कारण अपने समाज में ही व्याप्त सामाजिक असमानता थी। अत: उन्होंने अपने आक्रमण का लक्ष्य इसके पुरस्कर्ता, स्वयं को श्रेष्ठ समझने वाले समाज के ज्येष्ठों को ही बनाया। अत्याचार की यह परम्परा इतनी पुरानी एवं उसकी मात्रा इतनी अधिक थी कि प्रतिकार करते समय भाषा में बदले की भावना या कटुता आना स्वाभाविक था। पर यह कटुता भी उनके हृदय की संवेदनशीलता की ही परिचायक है। शायद बुद्धिवादिता तथा संवेदनशीलता के कारण ही वे अपने जीवन की संध्या में बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हुये।

वैसे बाबासाहब बचपन से ही बुद्ध तथा ईशपुत्र ईसा की ओर उपरोक्त कारण से आकृष्ट हुये थे। दोनों ही बुद्धिवादी होने के कारण तीव्र चिकित्सक थे। दोनों ही करुणा के मूर्तिमान प्रतीक थे। अपने जीवन के तीस वर्ष ईसा ने तपस्या एवं अनुभव प्राप्त करने में बिताये। अंत के केवल तीस वर्ष ही वे धर्म प्रचार कर पाये। अत: उन्होंने जो कुछ प्रत्यक्ष बताया या लिखा हुआ मिलता है, ईसाई विद्वानों के अनुसार, वह मत अधिक से अधिक दो घंटे में पढ़ने योग्य है।

भगवान बुद्ध के विचार चिंतन को प्रकट करने वाला अधिकृत साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। भगवान बुद्ध की यह विशेषता रही है कि उनके बहुत कुछ कहने सुनने के बाद जब उनके अनुयायियों ने उनसे अंतिम समय मार्गदर्शन के लिये आग्रह किया तो उन्होंने कहा कि उनके अनुयायी उनकी ही कही किसी बात को केवल इसलिये न मानें कि वह बुद्ध ने कही है। अपितु वे स्वयं प्रकाशित बनें (Be lamp unto thyself)। इतने वे अंधश्रद्धा के विरोधी एवं बुद्धिवादी थे। करुणा के तो वे इतने श्रेष्ठ अवतार थे कि

ईसाई देशों में भी बुद्ध की महिमा बहुत विशाल मात्रा में गाई जाती है। उन्होंने पर्याप्त मात्रा में अपने आदर्श के अनुरूप यहाँ का समाज जीवन खड़ा किया था।

श्रद्धेय बाबासाहेब भी उपरोक्त दोनों गुणों के, इस शताब्दी के, अत्यन्त श्रेष्ठ आराधक थे। भगवान बुद्ध के मार्ग पर चलने में उन्हें शांति का अनुभव होना स्वाभाविक था। एक ओर मन की अत्यधिक कोमलता तथा दूसरी ओर अनंत अत्याचारों को सहन करने वाली ध्येयवादी दृढ़ता उनमें दिखाई देती है। दोनों गुण उनके जीवन में चरमोत्कर्ष पर दिखाई देते हैं। समय-समय पर नासिक, महाड़ आदि स्थानों पर उन पर शारीरिक आक्रमण भी हुये, पत्थर फेंके गये, मार डालने का भी प्रयत्न हुआ परन्तु इन सब परिस्थितियों में भी वे सदा अविचलित रहे। अपने पीड़ित बन्धुओं के उत्कर्ष की साधना में तो वे प्राणार्पण के लिये भी तत्पर थे। ऐसे थे वे महापुरुष। ऐसे ही लोगों का वर्णन अपने यहाँ के काव्य में इस प्रकार मिलता है-

'वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि।'

यदि हम उनके समय की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थिति तथा उसमें उनके द्वारा किया गया व्यवहार दोनों को एक दूसरे के सन्दर्भ में समझने का प्रयास करें तो उनके मार्ग दर्शन को व्यवहार में लाने की दिशा हमें समझ में आ सकेगी। अपने देश में, विशिष्ट वर्ण में उत्पन्न होने के कारण अपने को विशेष ऊंचा मानने वाले लोगों ने अनेक विकृत रूढ़ियां चलाई थी। इन स्वयंभू समाज धुरीणों की मिथ्या धारणाओं के विरुद्ध बाबासाहेब ने विद्रोह का झंडा खड़ा किया।

दूसरी ओर विदेशी शासकों ने भारत में अपने शासन का औचित्य सिद्ध करने के लिए अनेक भ्रान्तियां निर्माण की थी। बाबासाहेब ने उनका भी अत्यन्त कठोरता पूर्वक खंडन किया। उन्होंने अपने सामने आने वाले प्रश्नों को कभी भावावेश में नहीं देखा। उन्होंने उनका गहराई से अध्ययन किया तथा उनका अत्यंत तर्कयुक्त निराकरण प्रस्तुत किया। अनेक अंध-विश्वासी रूढ़िवादियों के लिए उनके प्रहार असह्य होते थे। अपना हिन्दू समाज शिक्षित-अशिक्षित, गरीब-अमीर, सवर्ण-अवर्ण आदि अनेक प्रकार के भेदभाव से परिपूर्ण हो गया है। इनके कारण ही परस्पर कटुता उत्पन्न होती है। विदेशी शासन भी इसका लाभ उठाने के लिए उसे और अधिक बढ़ाने का प्रयत्न करता है। अन्यान्य स्वदेशीय राजनीतिक नेता, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए जब इस कटुता

को उछालते हैं तो इसका कितना वीभत्स स्वरूप अपने सामने प्रकट होता है यह तो हम आज भी अनुभव कर सकते हैं। परन्तु श्रद्धेय बाबासाहेब को ऐसा क्षुद्र स्वार्थ का स्पर्श भी कभी न हो पाया। दुःखी-पीड़ित स्वबाँधवों के प्रति प्रामाणिकता से करुणा का भाव होने पर भी वे विदेशी चालों के कभी शिकार न हुये। उन्होंने सदैव राष्ट्रभक्ति की भावना से ही सब स्थितियों का ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक विश्लेषण किया। उन्होंने पहला हमला 'साहेब वाक्यं प्रमाणं' मानने वालों पर किया अर्थात् जो कुछ हमारे शासक अंग्रेज कहते है वही ठीक है इस कुधारणा को ही जड़मूल से उखाड़ने का प्रयत्न किया।

स्वयं का विदेशीपन ढकने के लिए अंग्रेजों ने आर्यों को विदेशी सिद्ध करना चाहा। उन्होंने शिक्षा के समस्त साधनों द्वारा इसको जनमानस में दृढ़मूल करने का प्रयत्न किया। हमारे यहाँ के कई तथाकथित विद्वानों ने भी इसे स्वीकार कर लिया। अति प्रखर देशभक्त लोकमान्य तिलक जैसे विद्वान ने भी उत्तर ध्रुव सागरीय क्षेत्रों को वेदों की जन्मभूमि बताया। इस विपरीत परिस्थिति में उपर्युक्त विचारों को चुनौती देना तथा उसका खण्डन करना भीषण साहस का काम था। परन्तु बाबासाहेब ने इसके खण्डन में दो तीन बातें बड़े ही आग्रह से प्रतिपादित की। पहली बात उन्होंने रखी कि 'आर्य' शब्द गुणवाचक है। उन्होंने कहा कि 'आर्य' शब्द जातिवाचक नहीं है। वेदों में जहाँ-जहाँ 'आर्य' या 'अर्य' शब्द प्रयोग में आया है यह गुण वाचक ही है। उन्होंने इसकी गिनती बताते हुये कहा कि इस शब्द का उल्लेख वेदों में ३३-३४ बार आया है। उन्होंने बताया कि वेदों में गंगा का जो उल्लेख है जो भारत की नदी है। वेदों में घोड़ों का उल्लेख है तथा उनका उपयोग बताया गया है। उत्तरी ध्रुव के बर्फीले क्षेत्र में घोड़े नहीं होते। फिर वेदों की निर्मिति ध्रुव क्षेत्र में कैसे हो सकती है, यह उनका सीधा सा प्रश्न था। कह नहीं सकते कि इस काल में लोकमान्य तिलक होते तो वे इसका क्या समाधान करते।

हिन्दू समाज में व्याप्त विकृति साधारणत: सर्वमान्य विषय रहा है। किसी भी समाज की गति जब कुण्ठित होती है तब उसमें किसी न किसी कारण से विकृति आना स्वाभाविक है। यह एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। हजार वर्ष तक अमानुषिक आक्रमणो से टक्कर लेते हुए समाज के नेतृत्व को पुनर्रचना का अवसर ही न मिला। बदलते हुए समय के अनुरूप यहाँ स्मृतियां भी बदली है। परन्तु उस काल में यह संभव न हो सका।

अत: बंधे हुए गतिहीन पानी के समान अपने इस समाज में भी सड़ांध उत्पन्न हो गयी। अपने समाज के प्रति यही अपनत्व की भावना लेकर बाबा साहेब इसका निराकरण खोजते रहे।

समाज का कोई विशेष वर्ग जब अधिकार या सुविधाओं के स्थान पर पहुंचता है तो वह उसे अपने लिए स्थायी बनाने का प्रयास करता है। यह समान रूप में सबके अनुभव की बात है। अनेक प्रकार के उल्टे सीधे तर्क देकर वह अपने लिए यथासंभव सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक संरक्षण प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। अपने देश में भी ऐसा ही हुआ। चातुर्वर्ण्य की मूल कल्पना में उच्च-नीचता को स्थान नहीं है। भगवान का सिर या पैर कोई भी छोटा या बड़ा नहीं। फिर भी स्वार्थवश इन्हीं शब्दों का भिन्न-भिन्न संदर्भों में प्रयोग कर ऐसे कुछ मंत्र और ग्रंथ रचे गए। दुर्भाग्य से दुर्बल राष्ट्रभाव वाले अपने समाज में इसे मान्यता प्राप्त होती गयी। इनको भगवान द्वारा निर्मित कहा गया। आखिर अधिकार का पद और वह भी अनायास प्राप्त। कौन छोड़ना चाहेगा? श्रद्धेय बाबासाहेब ने इस व्यवस्था तथा उनके वर्तमान व्यावहारिक स्वरूप दोनों पर बड़े ही तर्कपूर्ण एवं प्रबल प्रहार किए। उन्होंने अपने समाज जीवन का गहन अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला कि प्रारंभ में अपने समाज में शूद्र वर्ण ही न था। वास्तविक ज्ञानी तपस्वी अपरिग्रही एवं मान-सम्मान की भावना से युक्त लोगों को ब्राह्मण कहते थे। स्वाभाविक ही क्षत्रिय, वैश्य आदि उनका सम्मान करते थे। आगे चलकर क्षत्रियों की शक्ति का प्रभाव बढ़ने के कारण अथवा ब्राह्मणों की क्षमता के कारण क्षत्रिय उन्हें कम सम्मान देने लगे। इससे कुपित हो ब्राह्मणों ने ऐसे क्षत्रियों को संस्कार शून्य बताकर असंस्कृत या शूद्र कहना प्रारम्भ किया। अर्थात शूद्र संस्कार हीन माना जाता था। इसमें छुआछूत का कहीं विचार नहीं था।

डॉ.अम्बेडकर ने अपने गहन अध्ययन के आधार पर यह बात भी समाज के सामने रखी कि वेदों के रचयिता केवल ब्राह्मण ही नहीं थे। सभी वर्गों के लोगों ने वेदों की ऋचायें लिखी हैं। श्रद्धेय बाबासाहेब ने प्रत्येक वर्ण द्वारा लिखी वैदिक ऋचायों की संख्या भी देने का प्रयास किया है। हिन्दुओं में सर्वाधिक मान्यता प्राप्त, अतीव अर्थ पूर्ण परमादरित गायत्री मंत्र का भी दृष्टा ब्राह्मण नहीं अपितु क्षत्रिय ऋषि विश्वामित्र थे। विश्वामित्र एक क्षत्रिय, एक राजा थे। अपने हिन्दू समाज को समाज संस्कारों एवं

विचारों से अनुप्राणित करने वाली मनुस्मृति भी क्षत्रिय राजा मनु द्वारा प्रतिपादित है। ब्राह्मणों ने ही इसे स्वीकार कर इसको सर्वमान्य एवं पवित्र घोषित किया है। यह कितने सूचक संयोग की बात है कि रूढ़वादियों द्वारा अछूत कहे गए लोगों में ही भारत के नव-मनु का जन्म हुआ है। यह बात सर्व विदित है कि श्रद्धेय बाबासाहब अम्बेडकर ही स्वतंत्र भारत के संविधान के प्रमुख शिल्पकार थे। स्मृति-विरोधी व्यवहार करने वालों को बहिष्कार का दण्ड अपने समाज में दिया जाता है। वह दण्ड केवल शूद्रों के लिए नहीं अपितु सभी वर्णों के लिए था। वैदिक काल में यज्ञ में आहुति के माध्यम से अहंकार की बलि देते-देते कालांतर में यज्ञ अविशिष्ट प्रसाद का, मांसाहार का शौक बढ़ता गया। यही आगे बढ़ते-बढ़ते जिह्वा के स्वाद के लिए हिंसा का अनाचारी अतिरेकी रूप धारण कर बैठा। सदप्रवृत लोगों में इसके कारण घृणा उत्पन्न हुई। भगवान बुद्ध के अवतार के परिणाम स्वरूप इस हिंसा के प्रति घृणा ने समाज व्यापी रूप धारण कर लिया। फिर भी उस समय अनाचार समाज में इतना व्याप्त था कि भगवान को भी कुछ लोगों को गोमांस छोड़कर अन्य मांस खाने की अनुमति देनी पड़ी। उन्होंने कहा कि यदि तुमने अपने लिए या मात्र तुम्हारे लिए ही किसी पशु का वध न किया गया हो तो वह मांस ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं। कुछ लोग आदत के कारण तो कुछ लोग आर्थिक कारणों से मांस नहीं छोड़ सकते थे। अत: बुद्ध को मात देने के लिए, ब्राह्मणों ने पूर्ण अहिंसा के नाम पर किसी भी प्रकार के मांस को खाने का निषेध घोषित किया और इस सार्वजनिक निषेध के बाद जो लोग मांस खाते रहे उन्हे शूद्र माना गया। वे ही अस्पृश्य हुए। यह था श्रद्धेय बाबा साहेब का ऐतिहासिक विश्लेषण।

ऐसे ही उनका सामाजिक विश्लेषण भी वैशिष्टपूर्ण है। महाराष्ट्र में एक कहावत प्रसिद्ध है, 'गावां-गावांत महारवाड़ा' जिसका अर्थ है कि हर गांव, में अस्पृश्य बस्ती है। वैसे तो हर गांव में सभी वर्णों के लोग रहते हैं। परन्तु वे सब एकत्र रहते हैं और अधिकतर तथाकथित अछूत जातियों का निवास गांव के बाहरी हिस्से में होता है। अहंमन्य सवर्ण इसके लिए ऊंच-नीच मात्र का कारण बताते हैं। जिनका शासन या नेतागीरी अपने हिन्दू समाज की फूट के आधार पर अवलंबित है, ऐसे शरारती लोग इन भोले बन्धुओं में ऊंच-नीच भाव बताकर घृणा एवं द्वेष का प्रसार करते हैं। श्रद्धेय बाबासाहेब ने इसे एक ऐतिहासिक प्रक्रिया बताकर कहा कि प्रारंभ में खेती अविकसित थी। अत: कुछ

थोड़े लोग ही, जिनका जीवन स्तर स्थिर होता था, खेती कर पाते थे। शेष लोग पशुपालन अथवा शिकार आदि के लिए भटकते फिरते थे। स्वाभाविक ही ये आपस में टकराते और लड़ाइयां होती। कभी किसी की जीत और कभी किसी की हार। हारने वाले समुदाय के कई लोग मरते थे अत: उनकी संख्या कम हो जाती। इस कारण उन्हें किसी सहारे की आवश्यकता होती। अत: वे किसी गाँव के स्थिर लोगों का आश्रय के लिए सहारा खोजते। इसमें आपस में इस प्रकार समझौता होता गया। स्थिर लोगों को भी इनकी आवश्यकता थी। उन्हे लड़ाकू संरक्षक चाहिए थे। अत: स्थिर-स्थायी लोग पराजितों को आश्रय प्रदान करते तथा पराजित लोग इसके बदले परकीयों से लड़कर उनका संरक्षण करते। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक गांव की सीमा पर इनकी बस्तियां विकसित होती गयी, अस्पृश्यता के कारण नहीं अपितु नए एवं अपरिचित होने के कारण ये अलग से बारह ही रहते थे। इन्हीं पराभूत लोगों को श्रद्धेय बाबासाहेब ने हतप्रभ लोग (Broken Men) कहा है। उन्होंने अहंमन्य स्वदेशी, सत्ता लोभी अथवा पाश्चिमात्य लोगों के दुष्टतापूर्ण विधानों का खंडन ऐसे ही संशोधनपूर्ण एवं प्रभावी तर्कों से किया है।

उपरोक्त दृष्टिकोण से यह भी स्पष्ट होता है कि श्रद्धेय बाबा साहेब में स्वदेश, स्वसमाज, एवं स्वराष्ट्र के प्रति अभिमान कूट-कूट कर भरा था। वे कट्टर राष्ट्रवादी थे। राष्ट्र की निर्मिति के सम्बन्ध में, समकालीन कुछ विरले लोगों के समान, उन्होंने नए ढंग से व्याख्या प्रस्तुत की। पश्चिम के विद्वानों का केवल अंधानुकरण उन्हें मान्य नहीं था। उनके विचार में मनुष्य भटकते समूहों (Nomadic Tribes) के रूप में रहते थे। यह समूहों के रूप में रहते थे। यह समूहों में घूमते-फिरते थे क्योंकि इन्हें अकेले भय अनुभव होता था। स्वाभाविक ही इन्हें अपने-अपने समूह का अभिमान (Tribalism) निर्माण हो गया था इनमें परस्पर की भावना बहुत मात्रा में थी। इनकी कुछ मान्यतायें या आचार भी समान थे। परन्तु इनका किसी भूमि के साथ लगाव नहीं था। इस बीच खेती का आविष्कार हुआ इस निमित्त अब इनमें से कुछ लोग स्थिर रहने लगे। स्वाभाविक ही इनमें अब भूमि के साथ लगाव या अपनापन अनुभव होने लगा। इसमें समूह स्वार्थ निगड़ित होता गया। इसी में से प्रादेशिकता (Territorialism) की भावना का निर्माण हुआ। आगे जाकर इन्हीं दो प्रवृत्तियों के मिश्रण से संसार में राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। तीन-साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व इंग्लैंड, फ्रांस आदि देशों के राजाओं को

अंग्रेज के राजा (King of the English), फ्रांसीसियों के राजा (King of the French) कहा करते थे। बाद में वे इंग्लैंड के राजा (King of England) या फ्रांस के राजा (King of France) कहलाए। इस प्रकार पश्चिमी देशों में राष्ट्रीयता को निर्माण उपर्युक्त क्रम से हुआ। परन्तु हमारे भारत में विविध समूहों का बृहत् समष्टि में विलयन सहस्त्रों वर्ष अपनी वैशिष्टयपूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया में से हुआ है ऐसी उनकी मान्यता थी।

अपने समाज में भी मानवी स्वभाव की स्वाभाविक प्रक्रियानुसार कुछ लोगों ने स्वयं ही जन्मजात बड़प्पन धारण किया था। अत: वे पिछड़े, अविकसित, निर्धन लोगो को निम्न तथा छोटे समझना अपना अधिकार मानते थे। ऐसे पाखण्डी तथाकथित सवर्ण समाजधुरीणों की बाबासाहेब ने बहुत ही कड़े शब्दों में आलोचना की तथा उनके तर्कों का जोरदार खण्डन किया। उनके इस आलोचना का स्तर देखकर ही उनकी कट्टर देशभक्ति तथा विद्वता का परिचय मिलता है। इस दृष्टि से संविधान सभा में दिनांक ५ फरवरी १९५० को दिया गया उनका महत्वपूर्ण भाषण अध्ययन एवं मनन योग्य है। उसमें उन्होंने स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था कि, भारत शताब्दियों के बाद स्वाधीन हुआ है। (हम केवल १५० वर्ष गुलाम थे यह प. नेहरू जी की मान्यता उन्हें पूर्ण रूप से अस्वीकार थी।) अब इस स्वराज्य की रक्षा हमारा प्रथम कर्तव्य है। अपने समाज में किसी प्रकार की फूट पुन: हमसे स्वराज्य छीन लेगी। शताब्दियों की गुलामी के परिणाम-स्वरूप हममें कुछ विकृतियां, ऊंच-नीच भेद, आर्थिक विषमता, पिछड़ापन, जातिवाद आदि उत्पन्न हुये होंगे। परन्तु इसे अपना हथियार बनाकर कोई विदेशी हमारे स्वत्वों का अपहरण करना चाहेंगे तो हम उसे सहन नहीं करेंगे। हम उनकी यह आकांक्षा मिट्टी में मिला देंगे। यह हमारा घरेलू मामला है इसलिए इसे हम आपस में निबटेंगे। अपने लाभ मात्र या सामाजिक दृष्टि से अवगत स्थिति से निकलने की इच्छा से हम कोई विदेशियों के हस्तक नहीं बनेंगे। हमें अपने में उत्पन्न होने वाले जयचन्दो से सावधान रहना होगा। अपने जिस राष्ट्र एवं समाज के हम अंग-उपांग हैं उसके हित को ठीक प्रकार से पहचाने।

‘अछूत मुस्लिम भाई-भाई, हिन्दू जाति कहाँ से आई?’ जैसे नारे सुनकर उनकी आत्मा को स्वर्ग में अपार कष्ट हुआ होगा। भारतीय राष्ट्र जीवन एवं उसके सम्मान के लिए

उनके अन्त:करण में अगाध कर्म प्रेरणा थी। इसके लिए उन्होंने वर्षों अथक परिश्रम किया। पथभ्रष्ट अहंकाररूढ़ सवर्ण हिन्दू बन्धुओ का हृदय परिवर्तन करने का उन्होंने बहुत प्रयत्न किया। उन दिनों यही काम एक और भी महापुरुष अपने विशेष ढंग से कर रहे थे। वे थे पूज्य महात्मा गांधी। उनकी प्रामाणिकता, निष्ठा, असीम प्रयत्नशीलता तो उनके विरोधियों में भी शंका से परे थी। उन्होंने 'भंगी' शब्द का नवमूल्यांकन करने के लिए स्वयं को भंगी बताना, उन्हीं के मुहल्ले-मकानों में ठहरना, खाना-पीना प्रारम्भ किया। समाज के नासमझ स्वयंभू नेताओं नें जिन्हें अस्पृश्य कहा था, महात्मा जी ने उन्हें 'हरिजन' कहा। भड़काने वाले अनेक निहित स्वार्थी नेता होते हुए भी, इन दोनों महापुरुषों के प्रयत्नों के फलस्वरूप यह दलित पीड़ित वर्ग विक्षुब्ध होते हुए अपनी सामाजिक, आर्थिक उन्नति के लिए ही प्रयत्नशील रहा। साथ ही इन सत्पुरुषों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही अपना विवेक न खोते हुए अत्याचार सहे पर अपने इस हिन्दू समाज के प्रति आत्मीयता में कमी न आने दी।

वैसे यह बात अलग है कि इन दोनों के विचार पूरी तरह आपस में न मिलते हों। डॉ. अम्बेडकर 'हरिजन' शब्द प्रयोग के ही खिलाफ थे। महात्मा जी की सदाशयता को स्वीकार करने के बाद भी वे अनुभव करते थे कि 'हरिजन' यह हीनता का ही दूसरा नाम है। हरिजन नाम दे देने के लिए सवर्ण अपने को सदैव उपकारकर्ता ही मानते रहेंगे। अत: परस्पर भेद तथा ऊंच-नीचता तो बनी ही रही। यह स्थिति अत्यंत अपमानजनक है, ऐसा वे मानते थे। अत: उन्हे इस 'हरिजन' नामाभिधान से अत्यंत ही चिढ़ थी। महात्मा गांधी और डॉ. अम्बेडकर, दोनों के प्रयत्नों का लक्ष्य समान होने पर भी भूमिका एवं प्रक्रिया (Approach) भिन्न थी। दोनों महान थे। परन्तु एक का प्रयास बाहर से था तो दूसरा स्वयं भुक्तभोगी होने के कारण स्वानुभव से उत्पन्न कसक से मर्माहत होकर प्रयत्न रत था। इतना होने पर भी श्रद्धेय बाबा साहेब प्रतिक्रिया की भावना से सर्वथा अलिप्त थे। महात्मा जी का प्रयास मानवीय भावना से प्रेरित था जैसे अमरीका में नीग्रो लोगों के उद्धार के लिए किए जाने वाले प्रयासों में लिंकन का स्थान था उसी प्रकार भारत में अस्पृश्योद्धार के प्रयासों में महात्मा जी का था। परन्तु डॉ. अम्बेडकर का प्रयास बूकर टी. वाशिंगटन या मार्टिन लूथर किंग के समान था। महानता में समान होने पर भी दोनों की भूमिका में उनके स्वयं की भिन्न स्थिति के कारण अन्तर था। वैसे ही भारत में भी दोनों की भावनाओं को मिले शब्द रूप में भिन्नता होने पर भी

उनकी अपने समाज के लिये समान आत्मीयता थी। अपने समाज के कल्याण की भावना से उठाए गए उनके कदम अत्यन्त सतर्कतापूर्ण थे। दोनों को ही विदेशियों के इशारों पर चलने वाले उच्छृंखल तथा समाज में फूट डालने वाले लोगों के मार्ग मान्य नहीं थे।

बहुत प्रयत्न करने पर भी शताब्दियों के दास्यजन्य बीमारी से पीड़ित, रोगी समाज के धुरीणों में बहुत प्रयास करने पर भी, कोई परिवर्तन लाना असंभव लगने लगा। अत: एवं उन्हें अन्यथा सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा। अथक परिश्रम, शारीरिक-मानसिक प्रयत्नों की परिभाषा भी विफल होने लगी परन्तु श्रद्धेय बाबा साहब इस पर भी निराश न हुए। उनका चिंतन चल रहा था। वे अपने पीड़ित बन्धुओं की दीनहीन स्थिति में परिवर्तन तो लाना चाहते थे परन्तु अपने हिन्दू समाज में भी किसी प्रकार का विघटन उत्पन्न नहीं होने देना चाहते थे। वे एक ऐसे नए पंथ की कल्पना कर रहे थे जहाँ पीड़ित बन्धुओं को सामाजिक समानता तो मिले पर साथ ही उनकी भारत भक्ति भी अविचल बनी रहे यह उनके चिंतन की दिशा थी। उनकी इस दुविधा को समझकर विविध पंथों के नेताओं ने उनके पास चक्कर काटना प्रारम्भ किया। ईसाई पादरी, मुसलमान मौलवी, बौद्ध भिक्षु आदि उन्हे घेरने लगे। पादरियों और मौलवियों ने तो अपनी परम्परा के अनुसार देशी विदेशी सभी प्रकार के जोर अजमाना प्रारंभ किया। परन्तु उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि बाबा साहेब को आकर्षित न कर सकी। एक बार उनके मन में सिख पंथ स्वीकार करने का विचार तीव्रता से उठा था। उन्होंने इस हेतु एक प्रतिनिधि मण्डल भी अमृतसर भेजा परन्तु पता नहीं क्या बात हुई इस प्रतिनिधि मण्डल को वहाँ कोई अच्छा अनुभव न आया। अन्ततोगत्वा उन्होंने बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का निर्णय लिया।

मुसलमान या ईसाई बनने में उन्हें क्या आपत्ति थी यह उनसे पूछा भी गया। इस प्रश्न के उत्तर में जो कुछ उन्होंने कहा वह जहाँ उनकी प्रखर राष्ट्रवादी दूरदर्शिता का परिचायक है वहीं वह तथाकथित असांप्रदायिकता (Secularism) का देश भर में ढोल पीटने वाले नेताओं की कान खिंचाई भी है। उन्होंने साहस के साथ कहा कि ऐतिहासिक तथा वैश्विक कारणों से मुसलमान या ईसाई बनने वाले भारतीय के मन मस्तिष्क की दिशा बदल सकती है। वह भारत, भारतीयता, यहाँ का इतिहास, यहाँ की परम्परा आदि से

विमुख हो जाते हैं, यहाँ तक कि वे अपने भारतीय होने के बारे में कठिनाई से ही अनुभव कर पाते हैं। बौद्ध बनने से केवल उपासना की प्रक्रिया ही बदलती है। सामाजिक अथवा धार्मिक दृष्टि से कुछ मान्यतायें ही बदलती हैं परन्तु राष्ट्रीयता, राष्ट्रभिमान आदि में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जबकि इस्लाम या ईसाई मत ग्रहण करने में एक प्रकार से व्यक्ति राष्ट्रत्व से ही असंबद्ध (Denationalised), हो जाता है। उसका अराष्ट्रीयकरण हो जाता है। अपने पीड़ित बन्धुओं के उत्थान में भी उन्होंने इस बात को ध्यान में रखा कि कहीं इस परिवर्तन के परिणाम स्वरूप राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रीय एकात्मकता पर कोई आँच न आवे। उनके इस निर्णय लेने में स्वभावत: उनकी महानता ही प्रकट होती हैं। उनमें तनिक भी दांभिकता या अपने को बड़ा बताने की भावना नहीं थी। यदि उनमें तनिक भी इस प्रकार की बात होती तो निश्चय ही मुसलमान या ईसाई उन्हें अपने कंधों पर उछालते तथा दुनिया में अपने भारत विजय का ढिंढोरा पीटते। राष्ट्रीय एकात्मता की रक्षा के लिये उन्होंने इस अनायास प्राप्त होने वाली ख्याति का तिरस्कार किया। उन्होंने हर स्थिति में भारतीय ही बने रहना पसंद किया।

मेरा सौभाग्य है कि मुझे उन्हें केवल निकट से ही देखने का नहीं अपितु प्रत्यक्ष वार्तालाप एवं विचार विनिमय का भी अवसर मिला। एक बार बातचीत में काश्मीर संबंधी उनके विशेष दृष्टिकोण का पता चला। वे काश्मीर को पाकिस्तान को दे देना चाहिए इस मत के थे। उनका यह भाव हिन्दू और मुसलमान की सामाजिक मनोभूमिका से संबद्ध था। उनका मत था कि कट्टर मुसलमान कभी किसी उस राष्ट्र का राष्ट्रीय नहीं बन सकता जहाँ शरीयत का कानून न चलता हो। उसका मजहबी कानून अपने राष्ट्र की सीमाओं को लांघता रहता है और हिन्दू अपनी संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण स्पृश्यापृश्य की उधेड़बुन में फंस कर इस समाज को आत्मसात करने में असमर्थ रहेगा। इसलिये इस स्थायी सरदर्द को मोल लेने की अपेक्षा वह मुस्लिम बहुल होने से उसे पाकिस्तान को दे देना अच्छा होगा। यह था उनका अपने मत के समर्थन में व्यावहारिक तर्क। उनका कहना था कि हिन्दू समाज की 'मुझे छुओ मत' (Touch-me-not) वाली भूमिका बदलनी होगी। अपने ही समाज के समान संस्कार, आदर्श, आराध्य, भाव-भावनाएं, रीति-रिवाज, तीज त्यौहार वालों को पास बिठाने में हिन्दू को कठिनाई होती है। फिर पूर्णत: भिन्न आदर्श की आशा आकांक्षा वाले समाज को हम

कैसे आत्मसात कर सकेंगे? इतना होने पर भी श्रद्धेय बाबासाहेब के मन में अपने परम्परागत मान बिन्दुओं के लिये अपार श्रद्धा बनी हुई थी। अपने दलित बन्धुओं के साथ होने वाले अन्याय के परिणामस्वरूप उनका मस्तिष्क इतना आन्दोलित होने पर भी उन्होंने कभी अपना सन्तुलन नहीं खोया। कभी-कभी इस सम्बन्ध में वे मीठा व्यंग्य करते हुए अपनी पीड़ा का अनुभव कराने के साथ समाज का योग्य मार्गदर्शन भी करते थे। एक समय की घटना है। वे तब संविधान सभा (Constituent Assembly) की ध्वज समिति (Flag Committee) के सदस्य थे। एक बार बम्बई के हवाई अड्डे पर उनसे एक प्रतिनिधि मण्डल मिलने गया। प्रतिनिधि मण्डल ने उनसे प्रार्थना की कि वे ध्वज समिति में अपने परम्परागत गेरुवे ध्वज को भारत का राष्ट्रध्वज बनाने के लिये आग्रहपूर्वक प्रतिपादन करें। प्रतिनिधि मण्डल ने इसके लिये एक गेरुवे रंग के झंडे का नमूना उन्हें भेंट किया। श्रद्धेय बाबा साहेब ने ध्वज स्वीकार करते हुए उन्हें यह सलाह दी कि मैं तो यह प्रस्तावित कर दूंगा, परन्तु इतने से काम नहीं बनेगा। इसके साथ-साथ इस निमित्त बाहर बड़ा जन-आन्दोलन भी खड़ा करना होगा तभी मेरे प्रस्ताव को बल मिलेगा। बात करते-करते हवाई जहाज पर चढ़ते हुए उन्होंने प्रतिनिधि मण्डल के एक सदस्य श्री रा. ब. बोले की ओर देखकर हंसते हुए पूछा, 'क्यों जी यह गेरुवा ध्वज संसद भवन पर किसी अस्पृश्य युवक ने फहराया तो आपको कोई आपत्ति तो न होगी?' उन्होंने अपना वचन निश्चित ही पूरा किया परन्तु विशिष्ट परिस्थितिवश बाहर आवश्यक जन-आन्दोलन खड़ा न किया जा सका और परिणामस्वरूप यह योजना सफल न हो सकी।

एक बार उनसे वार्तालाप में उनके बौद्ध मत में दीक्षित होने की बात आई। उन्होंने बात ध्यानपूर्वक सुनी और तब वे थोड़ा अधिक गम्भीर होकर शांत भाव से बोले, "तुम्हारे संस्कारों के कारण मैं तुम्हारी भावनाओं की व्याकुलता को भलीभांति समझता हूँ। तुम्हारे हिन्दू संगठन के कार्य (राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ) से मैं भली भांति परिचित एवं प्रभावित भी हूँ। परन्तु हमें काल की गति को पहचानना होगा। मेरे जीवन का अब यह संध्याकाल आ गया है। अपने जनमानस पर चारों ओर विदेशी विचार धाराओं का आक्रमण चल रहा है। इससे स्वदेशी जनमानस दिग्भ्रमित होने की पूरी संभावना है। राष्ट्र की मूल जीवन-धारा से यहाँ के दलित समाज को, अलग विधर्मी एवं विदेशाभिमुख बनाने का प्रयास जोरों से चल रहा है। यह गति प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। यहाँ तक कि

यहाँ का मान्यता प्राप्त नेतृत्व भी इस प्रवाह में बहने लगा है और अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए धर्म निरपेक्षता, प्रगतिशीलता, उन्नति आदि नामों पर इसे बढ़ावा देने लगा है। इस सब परिस्थिति का लाभ साम्यवादी बड़े मजे से उठा रहे हैं। दूसरी ओर विरोध की बात तो अलग है मेरे अनेक साथी कार्यकर्त्ता भी दरिद्रता, दीनता, असमानता, अस्पृश्यता आदि से चिढ़कर इसी प्रवाह में बहने को आतुर हैं। फिर सर्वसाधारण की बात क्या कहें? अत: इन्हें कोई न कोई नई दिशा मिलना आवश्यक है जिससे वे राष्ट्र जीवन की मूलधारा से अलग न हो जावें। साथ ही अपने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक जीवन में कुछ परिवर्तन लाने में भी समर्थ हो सकें। इसी विचार से मैंने यह मार्ग चुना है।" इस दृष्टि से श्रद्धेय बाबासाहब ने आवश्यक सतर्कता भी बरती थी। उनका प्रयास था कि कोई भी स्वबांधव चाहे उसे उसके राजनीतिक या धार्मिक-सामाजिक विचार मान्य न हों अपनी मूल जीवन धारा से बाहर न जाने पावे। बौद्ध मतावलम्बी बनते समय अपने कार्यकर्त्ताओं को सम्बोधित करते हुए डॉ. साहेब ने कहा कि जिन्हें हमारे राजनीतिक विचार मान्य नहीं परन्तु बौद्ध मत मान्य है उन्हें हमें बौद्ध बनाना चाहिये, और जिन्हें हमारा बौद्ध मत मान्य नहीं पर हमारे राजनीतिक विचार मान्य है उन्हें हमें अपने दल में प्रविष्ट कराना चाहिये। एक जाति के सभी सदस्य एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हो या सभी बौद्ध मतावलम्बी हों यह बात हमें यथासम्भव टालनी चाहिए।

श्रद्धेय बाबासाहेब दलित स्वबांधवों के आगामी नेतृत्व के बारे में भी सदैव चिन्तित रहते थे। उनका विचार था कि इस युवा वर्ग को भविष्य में कोई योग्य कर्णधार न मिला तो इन्हें साम्यवाद के प्रभाव या नये भीषण दास्य से बचाना असम्भव हो जावेगा। विदेशी वादों के प्रभाव से अपने युवकों को बचाने का उन्होंने भरसक प्रयास किया। समाजवाद एवं लोकतंत्र साथ-साथ नहीं चल सकते (Socialism and Democracy can never be together) यह श्रद्धेय बाबासाहेब ने असंदिग्ध शब्दों में घोषणा की थी। जिस काल में उन्होंने यह घोषणा की थी उस काल में इस विषय पर इतना आग्रही प्रतिपादन करने का साहस अन्य किसी नेता में नहीं था। कुछ अन्य दलों ने भी बाद में यह भूमिका स्वीकार की। श्रद्धेय बाबासाहेब यह कहा करते थे कि "प्रगतिशीलता एवं समान अधिकार की आंधी इतनी तेजी से बहने वाली है कि स्वार्थी नेतागण तथा विदेशी शक्तियां इसका अनुचित लाभ उठाना चाहेंगी। इन सबसे मुकाबला करने के लिये

आपको भी अनेक मोर्चो पर युद्ध के लिये सिद्ध रहना होगा। मैंने भी एक सम्भाला है संभव है कि विशाल भारतीय समाज का एक बड़ा भाग काल के प्रभाव के कारण अब अधिक दिन धैर्य धारण न कर सके। अत: इसका शीघ्रगामी इलाज आवश्यक समझकर मैंने यह प्रयास किया है। इसमें इस दलित समाज को विदेशाभिमुख तथा केवल धनाभिलाषी होने से निश्चय ही रोका जा सकेगा।" कभी-कभी वे दृढ़तापूर्वक कहते है कि 'भारत के दीन-हीन दरिद्र लोग और साम्यवादी इनका संयोग होने के मध्य, डॉ. अम्बेडकर बाधारूप दृढ़ दीवार के समान किसी समाज सुधारक स्वार्थी नेता की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली सिद्ध होंगे' उनकी दूरदर्शिता एवं प्रखर राष्ट्रभक्ति का इससे और अच्छा प्रमाण क्या हो सकता है?

उनकी राष्ट्राभिमानी तथा विजिगीषु वृत्ति को प्रकट करने वाला तथा अनेक जन नेताओं के लिये बड़ा उद्बोधक एवं प्रेरक विचार का एक उदाहरण और भी है। हो सकता है सब लोग उनके विचार से पूर्णत: सहमत न हों परन्तु उनके लक्ष्य की परिपक्वता, उदात्तता तो माननी ही होगी। स्वर्गीय सरदार पटेल के बाद इतनी पुरुषार्थयुक्त आकांक्षा राजनीतिक मंच पर इसी महापुरुष ने प्रकट की है।

बौद्ध मत में दीक्षित होने में उनका एक और विचार था विश्व के मानचित्र पर यदि हम दृष्टि डालें तो एक बात ध्यान में आवेगी कि दक्षिण पूर्वी एशिया के देशों में बहुत बड़ी संख्या में बौद्ध रहते हैं। बौद्ध मतावलम्बी होने के कारण ये देश स्वभावत: भारत की ओर नेतृत्व के लिये देखते हैं। अत: नवजागृति के कारण इन देशों के भारत के साथ प्रगाढ़ धार्मिक सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित होकर उसके नेतृत्व मे विश्व में एक नयी शक्ति का उदय होगा। यह था उनका स्वप्न। इसीलिये चीन के तिब्बत संबंधी मंसूबों का उन्होंने डटकर विरोध किया तथा भारत सरकार की इस संबंध में अदूरदर्शितापूर्ण एवं दब्बूनीति की निंदा की। उन्होंने पं. नेहरू को इस बारे में बार-बार चेतावनी दी परन्तु दुर्भाग्य से पं. नेहरू ने उनकी उपेक्षा ही की। भारत की सुरक्षा की दृष्टि से तो आवश्यक था ही, बौद्ध जगत का श्रद्धा केन्द्र होने के कारण भी तिब्बत का स्वतंत्र रहना आवश्यक था। यद्धपि चीन भी बौद्ध बहुल देश था परन्तु साम्यवादी हो जाने में उसका अपने प्राचीन सांस्कृतिक विरासत से सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था। श्रद्धेय बाबासाहब की यह अपेक्षा थी कि भारत दक्षिण पूर्वी देशों के शक्ति समूह का नेतृत्व करता हुआ

साम्यवाद का मुकाबला करता। इस प्रकार समूचे बौद्ध जगत की श्रद्धा पुनः भारत के प्रति प्रस्थापित होती। परन्तु हमारे यहाँ के भीरु नेतृत्व ने विश्व में अपनी अदूरदर्शिता एवं अक्षमता तो प्रकट की ही परन्तु साथ ही विश्व नेतृत्व का अत्यन्त उपयुक्त अवसर खो दिया।

बौद्ध मत को स्वीकार करते समय भी उन्होंने अपनी स्वाभाविक विशेषताओं को बनाये रखा। वे जन्मजात बुद्धिवादी थे। अंधानुकरण के कट्टर विरोधी थे। सभी बातों को उन्होंने बुद्धि की कसौटी पर परखा। जो उचित प्रतीत हुआ वही ग्रहण किया। केवल भगवान बुद्ध ने कहा है इसलिये कोई बात उन्होंने स्वीकार नहीं की। बौद्ध मत की पौराणिक बातों को तो उन्होंने चुनौती दी। बुद्ध की गृहत्याग सम्बन्धी किवदन्ती उन्हें अमान्य थी। बुद्ध ने अपनी आयु के उन्नीसवें वर्ष में संन्यास ग्रहण किया। श्रद्धेय बाबासाहब का प्रश्न था कि क्या इतनी बड़ी आयु तक बुद्ध ने बूढ़ा और मृत व्यक्ति देखा ही नहीं था? अतः बुद्ध को बूढे अथवा मृत व्यक्ति को देखकर वैराग्य उत्पन्न हुआ यह कथा उन्हें झूठी प्रतीत हुई। वे उसके वास्तविक प्रेरणा की खोज करना चाहते थे। वे पवित्र धर्म ग्रंथ 'धम्मपद' की कई बातों को जैसी की तैसी ही स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। धम्मपद में चार आर्य सत्य बताए गये हैं। उदाहरणार्थ जन्म से मृत्यु पर्यन्त का सम्पूर्ण जीवन उसमें दुःखमय बताया गया है। बाबासाहब का प्रश्न था कि क्या जीवन की सम्पूर्ण प्रक्रिया दुःखमय है? यदि ऐसा अनुभव नहीं होता तो फिर यह विधान यहाँ कैसे किया गया उनका विचार था कि यह शायद बुद्ध का मत न रहा हो, बाद में थोपा गया हो। इस ग्रन्थ में आत्मा के अस्तित्व को तो अस्वीकार किया गया है परन्तु कर्म, कर्मफल तथा पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। स्वाभाविक ही बाबासाहब ने प्रश्न उठाया कि यदि कर्म, उसका फल तथा पुनर्जन्म की व्याख्या वैदिक मान्यता के अनुसार हो तो फिर आत्मा के अस्तित्व को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? आत्मा का अस्तित्व मान्य नहीं तो कर्म और पुनर्जन्म की कल्पना बदलनी होगी। इस प्रकार भिक्षु की प्रेरणा क्या हो? इस सम्बन्ध में उनका स्पष्ट मत था कि केवल स्वयं अच्छा पुण्यवान बनना पर्याप्त नहीं है। यह तो निरा स्वार्थ हुआ। भिक्षु की प्रेरणा तो समाज सेवा की होनी चाहिए। पूर्ण पुरुष के स्थान पर समाज सेवक की अधिक आवश्यकता है। अन्यथा बौद्ध मत का प्रसार सम्भव नहीं। इस प्रकार बाबासाहब हर बात को अपनी बुद्धि की कसौटी पर खरी उतरने पर ही स्वीकार करते थे। अपने अनुयायियों को भी

उनका यही संदेश था। इस बात पर मैंने उनसे अपनी अधिक निकटता का लाभ लेकर विनोद में जब यह कहा कि बाबासाहब इससे तो एक और नया तीसरा-भीमयान पंथ निर्माण हो जावेगा तो वे हंस दिये।

वे वास्तव में क्रान्तिकारी थे। आत्मा की पुकार वे भी सुनते थे परन्तु गद्दी के लिए नहीं तो गद्दी त्याग के लिए। स्वबांधवों के उद्धार के लिए वे किसी प्रकार का भी कष्ट सहन करने के लिए तैयार थे, साहस और आत्मविश्वास के साथ दीर्घकालीन संघर्ष के लिए भी वे सिद्ध थे। प्रथम निर्वाचन के पूर्व नागपुर की एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने घोषणा की कि "केवल विरोधी दल के रूप में कार्य करने का लक्ष्य सामने रखकर हम चुनाव मैदान में नहीं उतरे हैं। शासन पर अधिकार करना हमारा ध्येय है।" सभा के बाद संवाददाताओं ने जब उनसे पूछा कि कितने वर्षों में आप सरकार बनाने की अपेक्षा करते हैं? डॉ. अम्बेडकर ने तुरन्त उत्तर दिया, "यह प्रश्न वर्षों का हिसाब करने से हल नहीं होगा। हाँ मै इतना अवश्य स्मरण दिलाना चाहता हूँ कि इग्लैंड में लेबर पार्टी की स्थापना कब हुई तथा उस पार्टी की सरकार कब बनी? इसका विचार करें।"

डॉ.अम्बेडकर की दुर्दम्य, आकांक्षा, उनके मन की पीड़ा उनकी समाज हित की भावना, उनका आदर्शवाद, उनकी दूरदृष्टि समझनी हो तो उनका सार्वजनिक मृत्युपत्र जैसा- मृत्यु के कुछ दिन पूर्व काठमांडू में अखिल बौद्ध सम्मेलन में दिया गया उनका भाषण पढ़ना एवं उस पर मनन करना आवश्यक है। सब लोग उसे अवश्य पढ़े, उसका मनन करें, उसका अनुसरण करें। मृत्यु के कुछ पूर्व नेपोलियन ने अपने बेटे के नाम एक पत्र लिखा था। इतिहास में वह "Political Testament" (राजनीतिक अभिलेख) के नाम से प्रसिद्ध है। उसी प्रकार श्रद्धेय बाबासाहेब अम्बेडकर का यह भाषण "Public Testament" के रूप में सदैव स्मरण किया जायेगा। उनकी श्रद्धायें, मान्यतायें , वेदनायें, स्वप्न, आदर्श सब कुछ इसमें प्रकट होता है। उनके अनुयायी कहलाने वाले हम सब इस भाषण को सार्वजनिक वसीयत के रूप में संजोयें तथा उसे अपने जीवन में साकार करने में सक्षम हों यही परमात्मा से प्रार्थना है।

"शताब्दियों की गुलामी के परिणामस्वरूप हममें कुछ विकृतियाँ, ऊंच-नीच भेद, आर्थिक विषमता, पिछड़ापन, जातिवाद आदि उत्पन्न हुए होंगे, परन्तु इसे अपना

हथियार बनाकर कोई विदेशी हमारे स्वत्वों का अपहरण करना चाहेंगे, तो हम उसे सहन नहीं करेंगे। हम उनकी यह आकांक्षा मिट्टी में मिला देंगे। यह हमारा घरेलू मामला है इसलिए इसे हम आपस में निबटेंगे। अपने लाभ मात्र या सामाजिक दृष्टि से अवनत स्थिति से निकलने की इच्छा से हम कोई विदेशियों के हस्तक नहीं बनेंगे। हमें अपने में उत्पन्न जयचन्दों से सावधान रहना होगा। अपने जिस राष्ट्र एवं समाज के हम अंग-उपांग हैं, उसके हित को ठीक प्रकार से पहचानें।”

-डॉ. भीमराव अम्बेडकर, (५ फरवरी १९५०, संविधान सभा)